शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

अप्रेल : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, चैत्र वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : १२

मोक्ष की रीति

जिसे मोक्ष प्रिय हो, उसे मोक्ष का कारण प्रिय होता है, किंतु बंध का कारण प्रिय नहीं होता। अब, मोक्ष का कारण तो आत्मस्वभावोन्मुख होना ही है और बाह्योन्मुख वृत्ति तो बंध का ही कारण है; इसलिये जिसे मोक्ष प्रिय है—ऐसे मोक्षार्थी जीव को अंतर्मुख वृत्ति की ही रुचि होती है, बहिर्मुख ऐसे व्यवहार भावों की उसे रुचि नहीं होती।

प्रथम अंतर्मुख वृत्ति की अच्छी तरह रुचि होना चाहिये; फिर भले ही भूमिकानुसार व्यवहार भी हो, किन्तु धर्मी-मोक्षार्थी को वह निश्चय से आदरणीय नहीं है; वह तो उसे ज्ञेयरूप एवं हेयरूप है। आदर और रुचि तो अंतर्मुख स्थिर होने की ही होने से ज्यों-ज्यों वह अंतर्मुख होता जाता है, त्यों-त्यों बहिर्मुख भाव छूटते जाते हैं।—इसप्रकार निश्चयस्वभाव में अंतर्मुख होने से बहिर्मुख ऐसे व्यवहार का निषेध हो जाता है—यही मोक्ष की रीति है।

[—समयसार, गाथा २७२ से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१६८]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आसन्न भव्य जीव को क्या उपादेय है ?

अत्यल्पकाल में जिसे संसार परिभ्रमण से युक्त होना है—ऐसे अति आसन्न भव्य जीव को निज परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। जिसमें कर्म की कोई विवक्षा नहीं है—ऐसा जो अपना शुद्ध परमात्मतत्त्व—उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है, उसी का आश्रय करने से सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होकर अल्पकाल में मुक्ति होती है; इसलिये मोक्षाभिलाषी ऐसे अति निकट भव्य जीव की अपने शुद्धात्मतत्त्व का ही आश्रय करने योग्य है; उससे भिन्न अन्य कोई आश्रय करने योग्य नहीं है। शुद्ध-सहज-परमपारिणामिकभावरूप ऐसे अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को उपादेय करने से ही मोक्ष होता है—ऐसा नियम है; इसलिये अंतर्मुख होकर जो जीव अपने ऐसे शुद्ध आत्मा को उपादेयरूप से अंगीकार करता है, वही अति निकट-भव्य है, वही अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है। और जो जीव ऐसे शुद्धात्मा को उपादेय नहीं करता तथा बहिर्मुख रागादिभावों को उपादेय करता है, वह मूढ़ जीव दुर्भव्य है; उसके लिये मोक्ष बहुत दूर है। इसलिये हे आसन्नभव्य जीव! हे मोक्षार्थी जीव! तू अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को उपादेय कर, वही उपादेय है—ऐसी श्रद्धा कर, उसी को उपादेयरूप से जान और उसी को उपादेय करके उसमें स्थिर हो।—ऐसा करने से अल्पकाल में तेरी मुक्ति होगी।

[-ऋषभ निर्वाण दिन : नियमसार, गाथा ३८ के प्रवचन से]

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

अप्रेल : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, चैत्र वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : १२

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक'
पर परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर-वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला ४, समाधिशतक गाथा १४-१५-१६]

तथा श्रुतपंचमी का प्रवचन

आत्मा को समाधि कैसे हो, अर्थात् शांति कैसे हो, आनन्द कैसे हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कैसे हो—उसकी यह बात है।

देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा है, उसी के अवलम्बन से शांति-समाधि होती है। देह ही मैं हूँ;—इसप्रकार शरीर में आत्मबुद्धि करता है और अन्तर के चैतन्यस्वरूप में प्रवेश नहीं करता; इसलिये जीव को शांति-समाधि नहीं होती। चैतन्यस्वरूप में प्रविष्ट होने का प्रयास करे, तभी शांति-समाधि हो। जिसप्रकार घर में महान वैभव भरा हो किन्तु यदि घर में प्रवेश न करे—उस ओर मुँह भी न फेरे तो उसे वैभव कहाँ से दिखाई देगा? उसीप्रकार आत्मा के चैतन्यगृह में ज्ञान-आनन्द-शांति का अपार वैभव भरा है, किन्तु जीव उसमें प्रवेश नहीं करता—उस ओर मुँह भी नहीं करता और बहिर्मुख रहता है, इसलिये उसे अपने निराकुल आनन्द का स्वाद नहीं आता। अपनी चैतन्य सम्पदा का भान नहीं है और बाहर की जड़ सम्पत्ति को ही आत्मा की मानता है, इसलिये वह दु:खी है।

बाह्य में सम्पत्ति बढ़े, वहाँ मानता है कि मेरी वृद्धि हुई; और संयोग छूटें, वहाँ मानो मेरा आत्मा मर गया;—इसप्रकार अज्ञानी को बाह्य में ही आत्मबुद्धि है। मैं तो सबसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मेरी सम्पत्ति मुझमें ही है;—इसप्रकार निजस्वभाव की दृढ़ता करे तो मिथ्यात्व दूर होकर, प्रथम सम्यग्दर्शनरूपी समाधि हो; फिर अपने चिदानन्दस्वरूप में ऐसा लीन हो कि जगत् को भूल जाये (अर्थात् उसका लक्ष छूट जाये) और राग-द्वेष दूर हो जायें, तब चारित्र अपेक्षा से वीतरागी समाधि होती है। इसके अतिरिक्त बाह्य में अपनापन माने, उसे समाधि नहीं होती, किन्तु संसार होता है।

आचार्यदेव, बहिरात्माओं पर करुणाबुद्धि से कहते हैं कि **'हा हतं! जगत्'** अरेरे! यह बहिरात्मा जीव **हत** हैं कि चैतन्य को च्युत होकर बाह्य में ही आत्मबुद्धि करके उसके संयोग-वियोग में हर्ष-शोक करते हैं... बाह्यदृष्टि से जगत् के जीव प्रतिक्षण भावमरण करके मर रहे हैं। अरे..रे...! खेद है कि यह जीव मर जाते हैं... देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जाने लें तो उनका उद्धार हो। जिसप्रकार पिता बैठा हो और सामने ही उसका पुत्र मोटर के नीचे दबकर मरा जा रहा हो तो पिता को करुणा आती है (-संयोग के कारण नहीं किन्तु पुत्र के प्रति ममता के कारण); उसीप्रकार मुनिवर और आचार्य-भगवान मुमुक्षु जीवों के धर्मपिता हैं; इन बहिरात्मा जीवों को अज्ञान से भावमरण में मरते देखकर उन्हें करुणा आती है कि अरे..रे! चैतन्य को चूककर जगत मोह से मूर्च्छित हो गया है! उसे अपने आत्मा की सुधबुध नहीं रही है। अरे! चैतन्य भगवान को यह क्या हुआ कि जड़ कलेवर में मूर्च्छित हो गया? अरे जीवों! अंतर में प्रवेश करके देखो... तुम तो चिदानन्दस्वरूप अमर हो, यह देह तो जड़ विनाशक है। बहिरात्माबुद्धि के कारण बहिरात्मा अनंत दुःख भोगते हैं। यहाँ **'हा हतं! जगत्'** कहकर उन पर करुणा करके, संत वह बहिरात्मबुद्धि छुड़ाना चाहते हैं ॥१४॥

❀ ❀ ❀

इसप्रकार बहिरात्मा के स्वरूप का वर्णन करके अब कहते हैं कि—इस देह में आत्मबुद्धि ही संसार के दुःख का मूल है; इसलिये हे जीव! वह बहिरात्मपना छोड़ और अंतर आत्मा में प्रवेश करके अंतरात्मा बन—

मूलं संसारदुःखस्य देहे एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

इस जड़ शरीर में आत्मबुद्धि करना, सो घोर संसार-दु:ख का मूलकारण है; इसलिये हे जीव! देह में आत्मपने की मिथ्या कल्पना छोड़कर, बाह्य विषयों की ओर की प्रवृत्ति रोक और अंतर के चैतन्यस्वरूप में प्रवेश कर—ऐसा उपदेश है।

जीव को ऐसा भ्रान्तिरूपी भूत लगा है कि वह देह को ही आत्मा मानकर, उसका शृंगार करता है, नहलाता-धुलाता है, उसमें सुख मानता है। धर्मात्मा को बाह्य में कहीं आत्मबुद्धि नहीं होती। संसार के दु:ख का मूल क्या?—तो कहते हैं कि 'शरीरादि मैं हूँ'—ऐसी मिथ्याबुद्धि ही संसार दु:ख का मूल है। जो देह को आत्मा मानता है, वह अपने ज्ञान को विषयों से विमुख करके आत्मोन्मुख कैसे करेगा? वह तो इन्द्रियों की ओर ही ज्ञान को झुकाता है और बाह्य में ही व्यापार करता है, वही दु:ख है। ज्ञान को इन्द्रिय विषयों से विमुख करके अन्तर में एकाग्र करने से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। अंतरंग में अपना आनन्द का भाजन भरा है, उसे छोड़कर मूढ़ जीव बाह्य विषयों में आनन्द मानता है। यहाँ आचार्यदेव वह मूढ़बुद्धि छोड़ने की प्रेरणा करते हैं कि अरे जीव! बाह्य विषयों में भटकना छोड़ और अंतर आत्मा में प्रवेश कर। बाह्य में शरीरादि से तेरा जीवन नहीं है; शरीर में मूर्च्छा से तो तेरा भावमरण होता है। तेरा जीवन तो तेरे चिदानन्दस्वरूप में ही है; उसमें तू प्रवेश कर।

जैसे—राजा अपने को भूलकर ऐसा माने कि मैं भिखारी हूँ; उसीप्रकार यह चैतन्य राजा अपने स्वरूप को भूलकर देह ही मैं हूँ—ऐसा मानकर विषयों का भिखारी हो रहा है; उसका नाम भावमरण है। उस पर करुणा करके कहते हैं कि अरे जीवों!—

''क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो!''

इन देहादि में आत्मबुद्धि छोड़ो, और भिन्न चैतन्यस्वरूप को पहिचानकर उसकी श्रद्धा करो... कि जिससे इन घोर दु:खों से छुटकारा हो और आत्मा का निराकुल सुख प्रगट हो। आत्मा का स्वरूप जानकर, फिर उसकी साधना करने से आत्मा स्वयंमेव परमात्मा बन जाता है। साध्य और साधन दोनों अपने में हैं; अपने से बाहर कोई साध्य या साधन नहीं है; इसलिये अपनी चैतन्यसम्पदा को सम्हालो... और देहबुद्धि छोड़ो—ऐसा संतों का उपदेश है॥१५॥

★

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला ६]

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का निर्णय होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है और इन्द्रिय-विषय नीरस लगते हैं। इन्द्रियों के विषय अजीव हैं और मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा जबतक नहीं जानता, तब तक जीव अज्ञानरूप से बाह्य विषयों को सुन्दर मान रहा है। शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि बाह्य विषय ज्ञान से भिन्न ज्ञेय हैं; मैं तो उपयोगस्वरूप हूँ।—ऐसा भान होने पर बाह्य विषयों की वृत्ति काले विषधर की भाँति दु:खदायक मालूम होती है; चैतन्यरस के निकट विषयों का रस छूट जाता है। प्रथम ऐसे आत्मा का निर्णय करना चाहिये। आत्मा का निर्णय करने से अतीन्द्रिय स्वाद आता है। फिर जो पुण्य-पाप की वृत्ति उठे और बाह्य विषयों की ओर रुचि जाये उसमें धर्मी को सुखबुद्धि नहीं होती; विषयों का रस उड़ जाता है, उस ओर का जोर टूट जाता है। अज्ञानदशा में विषयों की ओर के राग-द्वेष का एकान्त स्वाद लेता था, उसके बदले अब ज्ञानदशा में रागरहित आनन्द का स्वाद आया और विषयों के स्वाद विष-समान मालूम हुए, इसलिये उनका रस छूट गया। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के सामने इन्द्रों तथा चक्रवर्तियों के वैभव को भी ज्ञानी तुच्छ समझते हैं।

भगवान! एकबार निर्णय तो कर कि मैं आनन्दकंद आत्मा हूँ और विषय मुझसे पर हैं।—इसप्रकार उपयोग में निर्णय करने से चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। उस स्वाद के आनन्द के निकट इन्द्र के वैभव भी तुच्छ भासित होते हैं; इन्द्रियों के विषय रूखे लगते हैं। इन्द्रिय-विषयों की ओर वृत्ति का जाना वह दु:ख है। चैतन्य की सुन्दरता जानी, वहाँ अन्य की सुन्दरता भासित नहीं होती; जो चैतन्यानन्द में झुका, वह अब बाह्य विषयों के प्रति अनम्र रहेगा। जिसप्रकार विवाह के समय वर (दूल्हा) के गीत गाये जाते हैं कि "नहि नमशे रे नहि नमशे, मोटाना छोरू नहि नमशे;"—उसीप्रकार यह आत्मा जागा और 'वर' अर्थात् उत्कृष्ट-प्रधान ऐसे आत्मा के स्वभाव में आरूढ़ हुआ, वह वर-राजा-चैतन्यराजा-अब "नहि नमशे रे नहि नमशे, बाह्य-विषयों में नहि नमशे।" अर्थात् नहीं झुकेगा, नहीं झुकेगा, बाह्य विषयों में नहीं झुकेगा। जो अतीन्द्रिय चैतन्य में झुका, वह इन्द्रिय विषयों में अनमित-अनम्र रहेगा।

उपयोग को अंतरोन्मुख करके जहाँ चैतन्य के शांतरस को निर्णय में लिया, वहाँ विकार या विषय अपने शांतरस से भिन्न अग्नि समान भासित होते हैं। आत्मा के शांतरस के स्वाद के अतिरिक्त सम्यक्त्वी को अन्य स्वाद रुचिकर मालूम नहीं होते। जिसप्रकार ठण्डे जल में रहनेवाली मछली बालू में आने पर व्याकुल होती है, तो फिर वह अग्नि में कैसे रह सकेगी? जिसे पानी में ही रहने

का अभ्यास है, वह पानी से बाहर कैसे रह सकेगी ? उसीप्रकार आत्मा के चैतन्यसरोवर में केलि करनेवाले सम्यक्त्वी हंस को चैतन्य शांत रस के अतिरिक्त बाह्य में पुण्य-पाप की वृत्ति की या इन्द्रिय-विषयों की रुचि उड़ गई है। चैतन्य के आनन्द का ऐसा निर्णय (वेदन सहित) हो गया है कि अन्य किसी वेदन में स्वप्न में भी सुख भासित नहीं होता।—ऐसी सम्यक्त्वी की दशा है।

इस सम्बन्ध में एक श्लोक में कहा है कि—

जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठी तथा कौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयंत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चिंतायामपि यातुमिच्छति मनो दोषैः सम पंचताम्॥

अहो! इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का चिंतन करने से भी रस विरस हो जाते हैं; गोष्ठी-कथा का कौतुक उड़ जाता है; विषयों का विरेचन हो जाता है और शरीर के ऊपर से भी प्रीति मिट जाती है। वाणी का जोश शांत हो जाता है और मन भी समस्त दोषसहित पंचत्व को प्राप्त होता है, अर्थात् चैतन्य के चिंतन से मन संबंधी समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं और आत्मा अविरतरूप से आनन्द को धारण करता है।—ऐसी चैतन्य के चिंतन की महिमा है।

ज्ञानी को भी शुभाशुभराग तो आता है, किंतु अंतर में चैतन्यरस के कारण उसका रस उड़ गया है। ज्ञानी को राग हो, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि इसे राग की रुचि होगी! किन्तु उस समय अंतर में राग से अत्यन्त पार ऐसे ज्ञानरस का निर्णय ज्ञानी को वर्तता है, उस निर्णय की अज्ञानी को खबर नहीं है। ज्ञानी, राग में एकतारूप से परिणमित होते ही नहीं हैं। शुभराग के समय सर्वज्ञदेव की भक्ति आदि का भाव आये, वहाँ पूर्ण वीतरागता की ओर बहुमान का भाव उछला है और राग की मुख्यता नहीं है, राग की रुचि नहीं है; किन्तु अज्ञानी उस अंतरंग निर्णय को नहीं जानता, और 'आरम्भ-परिग्रह बढ़ गया है'—ऐसा वह बाह्यदृष्टि से संयोग को देखता है। किंतु चैतन्य के अकषायस्वभाव को चूककर रागादि में धर्म मानना ही अनंत आरम्भ-परिग्रह है; ऐसी अपनी मिथ्या मान्यता का पता ही नहीं है।

ज्ञानी की दृष्टि में कषाय के एक अंश की भी पकड़ नहीं रही है और परिग्रह में कहीं एकताबुद्धि नहीं है; अत्यन्त अल्प राग-द्वेष रहे हैं, इसलिये उसके आरंभ-परिग्रह अत्यन्त अल्प है। चक्रवर्ती-सम्यक्त्वी को छह खण्ड का राज्यवैभव होने पर भी, अत्यन्त अल्प आरंभ-परिग्रह वर्तता है; और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी होकर पंचमहाव्रत का पालन करे, बाह्य में हिंसादि न करता हो,

तथापि अंतर में राग से धर्म मानते है, इसलिये उसे अनंत संसार भ्रमण के कारण ऐसा अनंतानुबन्धी कषाय का अनंत आरंभ-परिग्रह है, कषाय की रुचि द्वारा वह अकषायी चिदानन्दस्वभाव का घात कर देता है; वही जीवहिंसा है। जिसे राग के रस की मिठास है, वह आरंभ-परिग्रह में ही स्थित है। ज्ञानी को चैतन्य के आनंदरस के अतिरिक्त अन्य किन्हीं विषयों में रस नहीं है, इसलिये उसे श्रद्धा में विषयों का सब परिग्रह या आरंभ छूट गया है; सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान में अपने अकषायी चिदानन्दस्वभाव को वह जीवित रखता है। फिर चारित्र में अल्प परिग्रहादि दोष है, वह गौण है।

चैतन्य के आनंद का ही उत्साह—समस्त इन्द्रिय-विषयों से पार होकर आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में लीन हुए ऐसे अशरीरी सिद्ध भगवंत ऊपर से पुकारते हैं कि—रे विषयों के भिखारी! इन विषयों को छोड़; तेरा सुख आत्मा के अतीन्द्रियस्वभाव में है, उसकी लगन लगा। अहो! सिद्ध भगवन्तों को प्रतीति में लेने पर भी जीव की इन्द्रियविषयों में सुखबुद्धि उड़ जाती है और आत्मा के अतीन्द्रिय सुख स्वभाव की प्रतीति हो जाती है। राग में सुख, इन्द्रियविषयों में सुख—इसप्रकार अज्ञानी, विषयों का भिखारी हो रहा है; सिद्धभगवान रागरहित तथा इन्द्रियविषयों से रहित हो गये हैं और मात्र आत्मस्वभाव से ही परमसुखी हैं। वे मानों ऊपर से जगत के जीवों को पुकार रहे हैं कि अरे जीवों! विषयों में—राग में तुम्हारा सुख नहीं है, आत्मास्वभाव में ही सुख है; उसे अंतर में देखो और इन्द्रियविषयों का कौतूहल छोड़ो। चैतन्य के आनंद का ही उल्लास, उसी का रस, उसी का कौतूहल, उसी में रुचि, प्रीति, तृप्ति तथा उसी की गोष्ठी करो।

सम्यक्त्वी को जहाँ आत्मा के आनंद का भान होता है, वहाँ बाह्य विषय नीरस लगते हैं और पूर्वकालीन अज्ञानदशा का खेद होता है कि अरे रे! मैं अभी तक बाह्य विषयों में ही सुख मानकर अपने अतीन्द्रिय आनंद से च्युत हो गया। पहले मैंने कभी ऐसा आनंद प्राप्त नहीं किया। अब आत्मा का अतीन्द्रिय आनंद प्राप्त होने पर, उस अपूर्व लाभ से ज्ञानी सन्तुष्ट होकर कृतकृत्यता का अनुभव करता है। अब उसे इन्द्रिय-विषय विरस लगते हैं, विषयों की कथा का कौतुक उसे शांत हो जाता है, विषयों की गोष्ठी, प्रीति छूट जाती है, शरीर की ओर का ममत्व भी छूट जाता है; वाणी मानों मौन हो जाती है; आनन्दस्वरूप अपने आत्मा के चिंतन से समस्त दोषसहित मन भी पंचत्व को प्राप्त होता है अर्थात् नष्ट हो जाता है और आत्मा आनन्द में एकाग्र हो जाता है।-ऐसी अंतरात्मा की दशा होती है ॥१६॥

यहाँ जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! ऐसा अंतरात्मा होने के लिये आत्मा को जानने का उपाय क्या है? उसका उत्तर अब कहेंगे।

अद्वितीय अर्हत्शासन-प्रकाशक

पंचरत्न

[वीर सं० २४८४, पौष शुक्ला ११ से माघ कृष्णा १ तक के प्रवचनों से]

****

यह अन्तिम पाँच गाथाएँ सम्पूर्ण प्रवचनसार शास्त्र के मुकुटमणि हैं—उनकी वचनिका प्रारंभ हो रही है। सर्व प्रथम उन पंचरत्नों की महिमा गाई जाती है:—

इस शास्त्र के मुकुटमणि समान यह पाँच निर्मल रत्न जयवन्त वर्ते!—कैसे हैं यह पाँच रत्न? संक्षेप से अरहंत भगवान के समान अद्वितीय शासन को सर्व प्रकार से प्रकाशित करते हैं; इसलिये इन पाँच गाथा-रत्नों में जो वस्तुस्थिति कही जायेगी, वह सर्वज्ञदेव के सम्पूर्ण शासन में सर्वत्र लागू करके परीक्षा करना और यह पाँच रत्न संसार तथा मोक्ष के विलक्षण पंथ को अर्थात् दोनों के भिन्न-भिन्न मार्ग को जगत के सामने प्रसिद्ध करते हैं। अहा! आचार्यदेव कहते हैं कि अरहंतदेव के समग्र शासन को संक्षेप से प्रकाशित करनेवाले, तथा संसार-मोक्ष की विलक्षण पंथवाली स्थिति को जगत के समक्ष प्रकाशित करनेवाले यह पाँच रत्न (गा. २७१ से २७५ तक के पाँच सूत्र) जयवंत वर्तें!

****

प्रथम रत्न

ये अयाथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये।
अत्यन्त फलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम्॥२७१॥

पंचरत्नों में यह प्रथम रत्न संसारतत्त्व को प्रगट करता है, अर्थात् संसारतत्त्व किसे कहना चाहिये, वह बतलाता है।

जैनशासन में रहकर व्रतों-महाव्रतों का पालन करता हो, तथापि जो जीव मिथ्यादृष्टिरूप से विपरीत तत्त्वों की श्रद्धा करता है, वह मिथ्यात्व के कारण अनंत संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिये वह संसारतत्त्व है, उसके स्वरूप को यह पहला रत्न प्रकाशित करता है।

जो स्वयं अविवेक से अर्थात् कर्म के कारण नहीं किन्तु अपने ही अज्ञानभाव से पदार्थों को अन्यथा स्वरूप से ही अंगीकार करते हैं, वे भले ही द्रव्यलिंगी श्रमण हुए हों, तथापि संसारतत्त्व ही हैं। देखो, यह सूत्र समग्र जिनशासन का रहस्य संक्षेप से प्रकाशित करते हैं; इसलिये कर्मोदय के कारण अज्ञान का होना कहा हो तो वह निमित्त से कथन है; वहाँ भी इस सूत्र में कहे अनुसार समझ लेना चाहिये कि उस जीव को स्वयं अविवेक से ही अज्ञान हुआ है—कर्म के कारण नहीं।

यहाँ संसारतत्त्व का उत्कृष्ट स्वरूप बतलाना है, इसलिये अज्ञानी द्रव्यलिंगी श्रमण की बात मुख्यरूप से ली है। कोई जीव जिनमत में कहा हुआ बाह्य द्रव्यलिंग धारण करके भले ही द्रव्य श्रमण हुआ हो, तथापि यदि यथार्थ तत्त्वों की श्रद्धा नहीं करता और विपरीतरूप से तत्त्वश्रद्धान करता है तो वह श्रमणाभास मिथ्यादृष्टि अज्ञानी संसारतत्त्व ही हैं; द्रव्यलिंग धारण करने से उसे किंचित् भी मोक्षमार्ग हो गया—ऐसा नहीं है; अभी भी वह संसारतत्त्व ही है—ऐसा जानना।

—मेरे स्वभाव का स्वभाव तो चैतन्य सामर्थ्यमय है;

—रागादि विभाव मेरे स्वभाव से विपरीत हैं;

—और देहादि संयोग तो मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं।

इसप्रकार जो यथार्थरूप से नहीं जानता; देहादि की क्रियाएँ मैं करता हूँ—ऐसा मानता है, राग से धर्म का लाभ होना मानता है, वह सतत महामोहरूपी मैल को इकट्ठा करता है; उसका मन मिथ्यात्वरूपी महामल से मलिन है; इसलिये वह 'नित्य अज्ञानी' है। नित्य अज्ञानी कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी विपरीतश्रद्धावाले जीव को व्यवहार का शुभराग करते-करते कभी दीर्घकाल में भी सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जायेगा—ऐसा नहीं है। अपने अविवेक के कारण जबतक विपरीत श्रद्धा करेगा, तबतक निरंतर वह अज्ञानी ही रहेगा।

ऐसा अज्ञानी जीव भले ही कदाचित् द्रव्यलिंगी होकर जिनमार्ग में रहता हो, अर्थात् व्यवहार से सर्वज्ञदेव को ही मानता हो तथा अन्य को न मानता हो; पंचमहाव्रतादि का पालन करता हो, तथापि वह यथार्थ श्रामण्यपने को प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये श्रमणाभास ही है। इस सूत्र पर से ऐसा समझ लेना चाहिये कि जो जीव, विपरीत तत्त्वों की श्रद्धा करते हैं (—जड़ की क्रिया को आत्मा की मानते हैं अथवा राग द्वारा धर्म मानते हैं), वे सब श्रमण नहीं किन्तु श्रमणाभास ही है और विपरीत श्रद्धा के कारण वे संसार मार्ग में ही स्थित हैं।

देखो, इस श्रमणाभास को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का शुभराग है; वह शुभराग होने

पर भी उसे संसारमार्ग में ही स्थित कहा है; अर्थात् शुभराग, वह मोक्षमार्ग नहीं है और शुभरागरूप व्यवहाराश्रित मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा यह सूत्र प्रसिद्ध करता है।

देखो, यह सूत्ररत्न अरहंतदेव के समग्र शासन को संक्षेप से प्रकाशित करता है। अंतरंग में संसारतत्त्व ही होने पर भी, बाहर से मोक्षमार्ग का वेष पहिनकर मुनि जैसा लगता हो तो यह सूत्र—'वह संसारतत्त्व ही है'—ऐसा प्रसिद्ध करके उसे प्रगट करता है।

जिस प्रकार चोर-लुटेरे झूठा वेष धारण करके लोगों को ठगते हैं; मानो कोई साहूकार हो—ऐसा बनावटी वेष पहिनकर ठग लेते हैं; उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि बाहर से जिनमार्ग का वेष धारण करके अर्थात् दिगम्बर द्रव्यलिंगी साधु होकर भी अंतरंग में जो रागादि पुण्य को धर्म मानकर विपरीत तत्त्वों की श्रद्धा करते हुए अज्ञानीरूप से वर्तते हैं, वे श्रमणाभास हैं; वास्तव में वे श्रमण नहीं हैं किंतु मात्र श्रमण का बाह्य वेष धारण किया है; ऐसे श्रमणाभास को भी संसारतत्त्व ही समझना; वह भी अज्ञान के कारण अनंत दुःखमय संसार में ही परिभ्रमण करता है। जिस प्रकार चिरायते को शक्कर की थैली में भरने से वही कहीं चिरायता मिटकर शक्कर नहीं बन जाता; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिंग धारण कर ले तो उससे वह कहीं संसारतत्त्व मिटकर मोक्षमार्गी नहीं बन जायेगा।

द्रव्यलिंगी साधु बनकर अहिंसादि पांच महाव्रत का पालन करने पर भी, उस विपरीत श्रद्धावाले जीव का चित्त महा मोहमल से मलिन है, और इसलिये वह दीनरूप पुनः पुनः देह करता हुआ संसार में ही भ्रमण करता है; इसलिये उसे संसारतत्त्व ही जानना। 'पंथ पर चलते-चलते अनंत काल बीत गया, तथापि अभी अंत नहीं आया'—ऐसा कोई कहे तो उसका यह अर्थ हुआ कि उसका पंथ ही विपरीत है। सच्चे मार्ग पर चले और अल्पकाल में भवभ्रमण का अन्त न आये—ऐसा नहीं हो सकता।

संसारतत्त्व उन पाँच भावों में से किस भाव में आता है ? संसारतत्त्व औदयिकभाव में आता है। और नव तत्त्वों में से आस्रव तथा बन्धतत्त्व, वे संसारतत्त्व हैं। यहाँ तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि श्रमणाभास को संसारतत्त्व जानना; अर्थात् मिथ्यात्व ही मूल संसार है। पं० बनारसीदासजी 'नाटक समयसार' में स्पष्ट कहते हैं कि—'प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व, संवर-निर्जरा-मोक्ष है'... इसप्रकार जो मिथ्यादृष्टि है, वह संसारतत्त्व ही है।

भले ही राजपाट और रानियों को छोड़कर तथा पंच महाव्रत धारण करके द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु हुआ हो, तथापि यदि मिथ्याश्रद्धा को नहीं छोड़ता तो उसने संसार किंचित् भी नहीं छोड़ा है; वह संसारतत्त्व में ही स्थित है—ऐसा निःशंक जानना।

—यहाँ प्रथम रत्न का प्रकाश पूर्ण हुआ।

❀ ❀ ❀

द्वितीय रत्न

अब, दूसरा रत्न मोक्षतत्त्व को प्रकाशित करता है—

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा।
अफले चिरं न जीवति इह स सम्पूर्ण श्रामण्यः ॥२७२॥

अप्रतिहतरूप से चैतन्यस्वरूप में जो लीन हुए हैं—ऐसे निर्विकल्प मुनि भगवन्तों को यहाँ मोक्षतत्त्व कहा है।

सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना।—कैसे हैं वे श्रमण? प्रथम तो तीन लोक के मुकुट समान निर्मल विवेकरूपी दीपक का प्रकाश जिनके प्रगट हो गया है, इसलिये यथास्थित पदार्थों का निश्चय हुआ है और तत्सम्बन्धी उत्सुकता का निवर्तन किया है। आत्मा की तत्त्वनिर्णय सम्बन्धी भूल, सो संसार है। उस भूल को दूर करने में आत्मा स्वयं समर्थ है। प्रथम तो सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक द्वारा जिन्होंने उस भूल को दूर कर दिया है, इसलिये संसार के मूल का छेदन कर दिया है; और पदार्थ का निर्णय करने के उपरान्त स्वरूप में मग्न होकर उपशांत हो गये हैं—ऐसे भावलिंगी संत, वे मोक्षतत्त्व हैं; अब वे दीर्घकाल तक इस संसार में नहीं रहेंगे, अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करेंगे। जिन्होंने अपने आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक प्रगट करके यथार्थ तत्त्वों का निश्चय श्रद्धान किया है तथा चिदानन्दस्वरूप में लीन होकर जो सदैव उपशांतरूप से वर्तते हैं—निर्विकल्प आनन्दसरोवर में निरन्तर हंस की भाँति केलि करते हैं—उसमें से बाहर निकलते ही नहीं—ऐसे साक्षात् श्रमण—जिन्होंने कि यहाँ मोक्षतत्त्व कहा है—वे पूर्वकालीन समस्त कर्मों के फल को लीला मात्र से नष्ट करते हैं अर्थात् उसमें किंचित् भी युक्त नहीं होते और नवीन कर्मफल को किंचित् उत्पन्न नहीं करते, इसलिये वे पुनः संसार में जन्म धारण नहीं करते। देखो तो सही! इसमें कर्मानुसार विकार होने की बात कहाँ रही?

जो कर्मानुसार (Degree to Degree) विकार होना मानते हैं; उनकी तो महा विपरीत श्रद्धा है; वे तो संसार में डूबे हुए हैं; परन्तु कर्मानुसार विकार नहीं होता, विकार तो अपनी भूल से होता है—ऐसा माने, पंच महाव्रत का पालन करे, किंतु अंतर में राग से पार चैतन्य के भूतार्थ स्वभाव का यदि अनुभव न करे तो वह भी संसारतत्त्व ही है। उस संसारतत्त्व की बात तो पहली गाथा में आ चुकी है, इसमें तो अब मोक्षतत्त्व की बात है।

अहा! स्वरूप में स्थित हुए मुनि को मोक्षतत्त्व ही कह दिया है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो बिलकुल निकट वर्तते हैं—ऐसे मुनिवर धर्म में प्रधान हैं और उन्हें यहाँ मोक्षतत्त्व कहा है; क्योंकि वे स्वरूप में ऐसे स्थित हुए हैं कि श्रेणी लगाकर, केवलज्ञान लेकर मोक्ष ही प्राप्त करेंगे, पुनः संसार में प्राण धारण नहीं करेंगे।

अरे, मिथ्यात्व में स्थित द्रव्यलिंगी मुनि भी दुःखी ही है। दुःखी कहो या संसारतत्त्व कहो; तत्त्व का यथार्थ निश्चय न होने से वह अविवेकी है—उसके विवेक चक्षु नहीं खुले हैं। अहा, संसार के घोर दुःख से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मरक्षा होती है; ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके जो स्वरूप में स्थित हुए हैं... ऐसे स्थित हुए हैं कि उसमें से बाहर निकलने के आलसी हैं—उसी में मग्न रहते हैं; प्रशांत होकर स्वरूप में जम गये हैं; इसलिये अयथाचार से अर्थात् रागादि से रहित हैं; वीतराग होकर शांत निर्विकल्परस को झेलते हैं, आनन्द के अनुभव में झूलते हैं। जहाँ व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी नहीं है, निर्विकल्प होकर आनंद-रस को पी रहे हैं, एक स्वरूप में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं, स्वरूप से बाहर आकर व्यवहार का किंचित् भी विकल्प उठे तो उतना भी अयथाचार है; यह मुनिराज स्वरूप से बाहर नहीं निकलते, इसलिये 'अयथाचार रहित' हैं तथा नित्य ज्ञानी हैं। ऐसे साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना।

यहाँ 'सिद्ध' को मोक्षतत्त्वरूप से न लेकर, जो अप्रतिहतरूप से अंतर्स्वरूप में लीन हुए हैं और उसमें से अब बाहर नहीं निकलेंगे—ऐसे साधु को यहाँ मोक्षतत्त्व कहा है।—साधु मानों अपनी दृष्टि के समक्ष मुक्त होने की क्रियारूप से परिणमित हो रहे हों—इसप्रकार आचार्यदेव उनका मोक्षतत्त्वरूप से वर्णन करते हैं:—अहा! जो चिदानन्दस्वरूप में अप्रतिहतरूप से लीन हुए —ऐसे मुनि, सो मोक्षतत्त्व हैं; क्योंकि चैतन्य में लीन होकर उन्होंने आनन्दपूर्वक पूर्वकाल के समस्त कर्मों का फल नष्ट किया है और नये कर्मों का किंचित् भी बन्ध नहीं होता, इसलिये वे पुनः

प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होते। इसप्रकार कर्मों से मुक्त होने की क्रियारूप परिणमित होने के कारण ही मुनि को मोक्षतत्त्व जानना।

—इसप्रकार पहले संसारतत्त्व और फिर मोक्षतत्त्व प्रगट किया। तत्त्वों की विपरीत श्रद्धावाले अविवेकी द्रव्यलिंगी श्रमणाभास को संसारतत्त्व में लिया और परम विवेक से तत्त्वश्रद्धा करके चैतन्य के आनन्द में अच्छिन्नरूप से लीन वर्तते हुए भावलिंगी श्रमणराज को मोक्षतत्त्व कहा।

—नमस्कार हो उन चरमशरीर मुनि भगवन्तों को!

(द्वितीय रत्न का प्रकाश यहाँ पूर्ण हुआ।)

❀ ❀ ❀

तृतीय रत्न

अब यह तीसरा रत्न मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व को प्रकाशित करता है:—

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम्।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ॥२७३॥

देखो, यहाँ शुद्धोपयोगरूप से परिणमित मुनि भगवन्त को ही मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप कहा है। भगवान अरहंतदेव ने जैनशासन में मोक्ष का जो साधन कहा है, उसे यह सूत्ररत्न प्रकाशित करता है। अरहंतदेव के शासन में कहे हुए मोक्षसाधन का सर्वत: संक्षेप से कथन करते हुए यह सूत्र कहता है कि स्वरूपगुप्त प्रशांत परिणतिवाले सकल महिमावंत भगवन्त शुद्धोपयोगी संत ही मोक्ष का साधनतत्त्व हैं, क्योंकि वे कर्मबन्धन को तोड़कर मुक्त होने के लिये अति उग्र प्रयत्न कर रहे हैं। अति उग्र प्रयत्न कौन सा है?—अंतर में शुद्धोपयोग वर्तता है, वही कर्मों का छेदन करनेवाला अति उग्र प्रयत्न है। शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य कोई वास्तव में मोक्ष का प्रयत्न या मोक्ष का साधन नहीं है।—ऐसा प्रसिद्ध करके यह तीसरा रत्न अरहंतदेव के शासन को प्रकाशित करता है।

अब, मोक्ष के साधनरूप शुद्धोपयोगरूप से परिणमित संत कैसे हैं? सो कहते हैं। प्रथम तो अनेकान्त द्वारा ज्ञात होनेवाला जो सकल ज्ञातृतत्त्व का और ज्ञेयतत्त्व का यथास्थित स्वरूप, उसके पांडित्य में जो प्रवीण हैं। देखो, यह पंडिताई! शास्त्र पढ़-पढ़कर भले ही महान पंडित नाम धारण कर ले, किंतु अंतर में ज्ञातातत्त्व कौन है और ज्ञेयतत्त्व क्या है? उसका जिसे निर्णय नहीं है, वह

पंडिताई में प्रवीण नहीं है किन्तु मूर्ख है। जिसने अंतर्मुख होकर ज्ञाता और ज्ञेयतत्त्वों को अनेकान्त द्वारा जानकर उनका बराबर निर्णय किया है, वह भले ही शास्त्र न पढ़ा हो, तथापि वह पंडिताई में प्रवीण है। ऐसे पांडित्य में प्रवीण शुद्धोपयोगी संत स्वयं ही मोक्ष के साधन हैं।

मोक्ष के साधनरूप यह शुद्धोपयोगी संत प्रथम तो अनेकान्त द्वारा ज्ञाता-ज्ञेय तत्त्व के पांडित्य में प्रवीण हैं; पुनश्च, वे कैसे हैं ? जिन्होंने अंतरंग से मोह-राग-द्वेष का संग छोड़ा है और बहिरंग में वस्त्रादि का संग छोड़ा है; इसप्रकार समस्त अंतरंग तथा बहिरंग संगति के परित्याग द्वारा उन संतों ने अंतर में चकचकित अनंत शक्तिवान चैतन्यतत्त्व के स्वरूप को विविक्त किया है, अर्थात् मोहादि परभावों से चैतन्य के निज स्वरूप को पृथक् कर दिया है; और उन मोक्षसाधक संतों की अंतर्परिणति चिदानन्दस्वरूप में गुप्त हो गई है; स्वरूप में ऐसी जम गई है कि मानो सुषुप्त हो... जिस प्रकार घोर निद्रा में सोनेवाले को आसपास के जगत का भान नहीं रहता, उसी प्रकार चैतन्य की अत्यन्त शांति में स्थित हुए मुनिवरों को जगत के बाह्य विषयों में किंचित् भी आसक्ति नहीं होती; अंतर्स्वरूप की लीनता में से बाहर निकलना किंचित् भी रुचिकर नहीं लगता। आसपास जंगल के शेर और चीते दहाड़ते हों, तथापि उनसे किंचित् भयभीत नहीं होते और न स्वरूप की स्थिरता से डिगते हैं।—अहा, उस दशा की भावना भाते हुए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

अेकाकी विचरतो वली स्मशानमां,
वली पर्वतमां सिंह वाघ संयोग जो...
अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो...
अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे ?

अहा ! ऐसे स्वद्रव्य में लीन शुद्धोपयोगी संत भगवंत, वे स्वयं ही मोक्ष के साधन हैं, वे स्वयं ही साक्षात् जीवंत मोक्षमार्ग हैं।

देखो, यह उत्कृष्ट बात है। साक्षात् शुद्धोपयोगी संत का मोक्ष के साधनरूप से वर्णन किया है। छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग में वर्तते हुए मुनियों को भी अंतर में उस समय वर्तती हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध परिणति (वीतराग परिणति) ही मोक्षमार्ग है, उसका उपचार करके शुभ को व्यवहार साधन कहा है। वास्तव में तो जितना राग है, वह मोक्ष के साधन से विपक्ष

ही है। शुद्ध रत्नत्रय तो मोक्षसाधन ही है, वह बन्ध-साधन नहीं है, और राग तो बंधसाधन ही है, वह मोक्षसाधन नहीं है;—इसप्रकार बन्ध-मोक्ष के कारणरूप भावों को जो भिन्न-भिन्न स्वरूप से नहीं जानता, उसे तो मुनिदशा की भी पहिचान नहीं होती।

मुनि तो शुद्धपरिणतिवाले होते हैं; शुद्ध रत्नत्रय के निर्विकल्प आनन्द के पेय पीकर मस्त हुए हैं और शुद्धोपयोग द्वारा मोक्ष की साधना करते हैं। उनकी शुद्ध परिणति ही मोक्ष का साधन है; अन्य कोई मोक्ष का साधन नहीं है।—ऐसा यह रत्न प्रकाशित करता है।

इसप्रकार अरिहंतदेव के समग्र शासन में कहे हुए मोक्ष के साधन को यह सूत्र संक्षेप से सर्वतः प्रकाशित करता है; अर्थात् इस सूत्र में मोक्ष के साधन का जो स्वरूप कहा है, उसका अनुसरण करके समग्र शास्त्रों का तात्पर्य समझ लेना; इससे विरुद्ध तात्पर्य कहीं भी नहीं समझना।

अहा! ऐसे शुद्धोपयोगी संत-मुनिवर सकल महिमा के स्थान हैं; सर्व मनोरथ के स्थानरूप से वे अभिनंदनीय हैं। मुमुक्षु के सर्व मनोरथ की सिद्धि ऐसे शुद्धोपयोग द्वारा होती है; इसलिये उसका अभिनंदन करते हुए अति आसन्नभव्य महा मुमुक्षु आचार्यदेव कहते हैं कि मैं ऐसे शुद्धोपयोग को अभेदरूप से भाकर नमस्कार करता हूँ, अर्थात् मैं उसरूप परिणमित होता हूँ। यह कहने का विकल्प उठा, वह तो अलग बात है (गौण है) किन्तु उस समय आचार्यदेव की परिणति उस प्रकार की शुद्धतारूप से परिणमित हो ही रही है; अर्थात् जैसा 'वाचक' परिणमित होता है, वैसा ही भीतर 'वाच्य' भी परिणमित हो ही रहा है; इसप्रकार संधिबद्ध रचना है; वाचक-वाच्य की संधि नहीं टूटती।

—इसप्रकार पंचरत्न में से पहले रत्न में संसारतत्त्व बतलाया; दूसरे में मोक्षतत्त्व बतलाया, और इस तीसरे रत्न में मोक्ष का साधन तत्त्व बतलाया। अब, चौथे रत्न में आचार्यदेव उस मोक्ष के साधन का सर्व मनोरथ के स्थान रूप से अभिनन्दन करते हैं:—

❀ ❀ ❀

चतुर्थ रत्न

सर्व मनोरथ के स्थानभूत ऐसे मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व का अभिनन्दन करते हैं—

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम्।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै॥२७४॥

अहा! मुमुक्षु के सकल मनोरथों का स्थान हो तो एक यह शुद्धोपयोग ही है... आचार्यदेव

कहते हैं कि बस! एक शुद्धोपयोग का ही हमें मनोरथ है, विकल्प उठता है, उसका मनोरथ नहीं है—उसकी भावना नहीं है; भावना तो शुद्धोपयोग की ही है। मोक्षार्थी के सकल मनोरथ की सिद्धि शुद्धोपयोग द्वारा ही होती है। शुद्धोपयोगरूप से परिणमित संत को श्रमणपना कहा है; ज्ञान-दर्शन भी उसी को कहे हैं; निर्वाण भी उसी को है और वही सिद्ध है; अहो! उसे नमस्कार हो, अर्थात् इस आत्मा का उसरूप परिणमन हो।

मोक्ष का साधनतत्त्व तो शुद्धोपयोग ही है; देहादि की क्रिया तो जड़ है; हिंसादिभाव तथा मिथ्यात्वादि, वह अशुभ पापाचरण है और दयादिभाव, वह शुभ आचरण है; यह कोई मोक्ष के साधन नहीं हैं। मोक्ष का कारण तो शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोगी संत-मुनियों को ही यथार्थ श्रामण्य है और शुभोपयोगी मुनियों को तो उनके पीछे-पीछे (गौणरूप से) लिया जाता है। उन शुभोपयोगी मुनि को भी साथ ही साथ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्ध परिणति तो वर्तती ही है; और जितनी शुद्ध परिणति है, उतना ही मोक्ष साधन है; बाकी जो राग रहा है, वह मोक्षसाधन नहीं है। ऐसी श्रद्धा भी जो न करे और राग को ही मोक्ष साधन माने, उसे तो अभी प्राथमिक सम्यग्दर्शन की शुद्धि भी नहीं है; तब फिर चारित्ररूप मुनिदशा तो कहाँ से होगी? और चारित्रदशा के बिना मोक्ष साधन कैसा? शुद्धोपयोगरूप से परिणमित संत ही साक्षात् मोक्षमार्ग है; अपनी मोक्षदशा के वे स्वयं ही साधन हैं। इसलिये ऐसा शुद्धोपयोग ही मोक्षार्थी के सर्व मनोरथों का स्थान है और वही अभिनन्दनीय है।

सातवें गुणस्थान में वर्तते हुए शुद्धोपयोगी मुनियों को श्रामण्य में मुख्य लिया है और छठवें गुणस्थान में वर्तते हुए शुभोपयोगी मुनियों को बाद में अर्थात् गौणरूप से लिया है। शुद्धोपयोगी की मुख्यता कहकर उन्हीं को अभिनन्दनीय एवं उपोदय बतलाया है और शुभोपयोगी का गौणपना कहकर उस शुभराग का हेयपना बतलाया है।

अहा! देखो यह परम सत्य मार्ग!! भगवान सीमंधर परमात्मा पूर्व विदेहक्षेत्र में विराजमान हैं; वहाँ जाकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण किया और फिर उन्होंने इन शास्त्रों में परम सत्यमार्ग की रचना की। अहा, कैसा सत्य मार्ग!! कैसा स्पष्ट मार्ग!! कैसा प्रसिद्ध मार्ग!! किन्तु आजकल लोग शास्त्र के नाम से भी मार्ग में गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं। क्या किया जाये? ऐसा ही काल! किन्तु सत्य मार्ग तो जैसा है, वही रहेगा। शुद्धोपयोगरूप साक्षात् मोक्षमार्ग त्रिकाल जयवन्त है; वही अभिनन्दनीय है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप जो साक्षात् मोक्षमार्ग स्वर्ग श्रामण्य, वह शुद्धोपयोगी को ही होता है; इसलिये वही मोक्षार्थी के मनोरथ का स्थान है।

तीनों काल की समस्त पर्यायों सहित समस्त वस्तुओं को प्रत्यक्ष जानने-देखनेवाले ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन भी शुद्धोपयोगी को ही होते हैं; इसलिये वह शुद्धोपयोग ही मोक्षार्थी के सर्व मनोरथ का स्थान है।

सहजज्ञान और आनन्द जिसकी मुद्रा है—ऐसे दिव्य स्वभाववाला जो निर्वाण, वह भी शुद्धोपयोगी को ही होता है; इसलिये मोक्षार्थी को उस शुद्धोपयोग का ही मनोरथ है।

टंकोत्कीर्ण परमानन्दरूप अवस्थाओं में स्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से जो गंभीर है—ऐसा सिद्धपद भी शुद्धोपयोग द्वारा प्राप्त होता है। इसप्रकार सर्व इष्ट की प्राप्ति के साधनभूत होने से शुद्धोपयोग सर्व मनोरथ का स्थान है और वही मोक्षार्थी जीवों को अभिनन्दनीय है। आत्मा शुद्धोपयोगरूप से परिणमित हो, वह मोक्षार्थी का मनोरथ है।

अहा! स्पष्ट मोक्षमार्ग को प्रसिद्ध करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

शुद्धोपयोग ही मोक्ष का साधन है; अन्य साधन नहीं है।

शुद्धोपयोग ही अभिनन्दनीय है, अन्य अभिनन्दनीय नहीं है।

शुद्धोपयोग ही मोक्षार्थी का मनोरथ है; अन्य मनोरथ नहीं है।

भगवान अरहंतदेव के ऐसे शासन को (ऐसे उपदेश को, ऐसे मार्ग को) यह पाँच सूत्ररत्न प्रकाशित करते हैं।

❀ मोक्ष के साक्षात् साधनरूप श्रामण्य शुद्धोपयोगी को ही होता है, अन्य को नहीं।

❀ केवलज्ञान और केवलदर्शन भी शुद्धोपयोगी को ही होता है, अन्य को नहीं।

❀ परम ज्ञान-आनन्दरूप निर्वाणपद भी शुद्धोपयोगी को ही होता है, अन्य को नहीं।

❀ परमानन्दरूप आत्मस्वभाव की प्राप्तिरूप सिद्धपद भी शुद्धोपयोगी को ही होता है, अन्य को नहीं।

—अधिक क्या कहें! इतने से बस होओ!! सर्व मनोरथ के स्थानरूप ऐसे इस शुद्धोपयोग को तद्रूप परिणमित होकर अभेदभाव से नमस्कार हो।

अहो... अंतर में चिदानन्दतत्त्व को ग्रहण करके उपयोग स्थिर हो, वही मुक्ति का उपाय है; वह अमृत है; वही धर्मात्मा के सर्व मनोरथ का स्थान है। धर्मात्मा के मनोरथ का चक्र शुद्ध

चैतन्यस्वभाव पर ही चलता है; विकार के मार्ग पर उसके मनोरथ का चक्र नहीं चलता। शुद्धोपयोग द्वारा ही मुनिदशा अंगीकार होती है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी शुद्धोपयोगपूर्वक होती है। इसप्रकार शुद्धोपयोग ही धर्म है; वही परमार्थ मोक्ष साधन है। साक्षात् शुद्धोपयोगरूप परिणमित होना, वह शुद्धोपयोगी संत को अभेद नमस्कार है। वहाँ, नमस्कार करनेवाला मैं और मेरे लिये नमस्कार करनेयोग्य दूसरे—ऐसा स्व-पर के भेद का विकल्प तोड़कर, निर्विकल्प से स्वयं अपने स्वरूप में नमन किया... अर्थात् जो नमस्कार करने योग्य थे, उनरूप स्वयं ही परिणमित हो गये... इसप्रकार शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर आचार्य भगवान ने शुद्धोपयोगी को भाव नमस्कार किया, और उन्हीं को सर्व मनोरथ के स्थान से अभिनन्दन किया।

इसप्रकार शुद्धोपयोग ही मोक्ष-साधन है—ऐसा कहकर, इस चौथे रत्न में उसे सर्व मनोरथ के स्थानरूप से अभिनन्दन किया... नमस्कार किया।

(– यहाँ चौथे रत्न का प्रकाश पूर्ण हुआ।)

❀ ❀ ❀

पंचम रत्न

शास्त्र पूर्ण करने से पूर्व, भगवान आचार्यदेव शिष्यजनों को शास्त्रफल के साथ युक्त करते हैं—

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकार चर्यया युक्तः।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति॥२७५॥

शास्त्र का फल क्या है, उसे यह पाँचवाँ रत्न प्रकाशित करता है। श्रुतज्ञान को अन्तरोनमुख करके उसके प्रभाव द्वारा केवल आत्मा का अनुभव करना, वह इस शास्त्र का उपदेश है; जो जीव इसप्रकार आत्मा का अनुभव करे, वह ज्ञान और आनन्द से भरपूर ऐसे अभूतपूर्व सिद्धपद को प्राप्त करता है—यही इस शास्त्र को जानने का फल है।

देखो, इस शास्त्र को जानने का फल अपूर्व ज्ञानानंदस्वभाव की प्राप्ति है; किन्तु शास्त्र को किस प्रकार जानना?—कि समस्त शास्त्रों के अर्थ के विस्तारूप या संक्षेपरूप श्रुतज्ञान उपयोगपूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्मा के अनुभवसहित जो शिष्य इस उपदेश को जानते हैं, वे वास्तव में अपूर्व ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त करते हैं। जो श्रुतज्ञान द्वारा केवल आत्मा का

अनुभव करते हैं, उन्हीं ने वास्तव में समस्त शास्त्र का रहस्य जाना है। शास्त्र का उपदेश भी यही है कि ज्ञानोपयोग को अन्तरोन्मुख करके केवल आत्मा का अनुभव करना;—जो शिष्य ऐसा करता है, उसी ने समस्त शास्त्र के उपदेश को जाना है, और इसप्रकार इस शास्त्र के उपदेश को जो जानता है, वह शिष्यवर्ग अपूर्व आत्मिक सिद्धि को प्राप्त होता है। इसप्रकार यह पाँचवाँ रत्न, शास्त्र के फल को प्रकाशित करता है।

इस प्रवचनसार ने क्या कहा? और उसके श्रोता मुमुक्षु ने क्या किया? प्रवचनसार ने जो कुछ कहा है, तदनुसार जो करे, उसने प्रवचनसार का यथार्थरूप से श्रवण किया है। प्रथम तो प्रवचनसार ने क्या कहा? कि श्रुतज्ञान को अंतर्मुख करके केवल आत्मा का अनुभव करने को कहा अर्थात् शुद्धोपयोगरूप परिणमित होना कहा; उसे झेलकर, शुद्धात्म-सन्मुख होकर जो शुद्धोपयोगरूप से परिणमित होते हैं, वे शिष्यजन प्रवचन के साररूप सिद्धपद को प्राप्त करते हैं।

शास्त्र में निश्चय और व्यवहार (—शुद्ध और शुभ) दोनों प्रकार की चर्चा अवश्य की है, किन्तु वहाँ तात्पर्य क्या था? शुद्धोपयोगरूप परिणमित होने का ही तात्पर्य था; उस तात्पर्यानुसार जो जीव परिणमित हुआ, वही इस शास्त्र के रहस्य को समझा है। उसने जिसप्रकार किया, उसीप्रकार शास्त्र का उपदेश था; इसलिये उस जीव ने शास्त्र का भावश्रवण किया है और वही शास्त्र के फलरूप मोक्षपद को प्राप्त करता है।—ऐसा अरहंतदेव के शासन का संक्षेप रहस्य है; अन्य जो कुछ है, वह इसी का विस्तार है।

—इसप्रकार अरहंत भगवान के समग्र शासन को संक्षेप में सर्व ओर से प्रकाशित करनेवाले पाँच रत्न

जयवन्त वर्तें!

भगवान का कल्याणकारी जन्म
और
जन्मोत्सव मनाने की रीति

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी—'महावीर जयंती' के अवसर पर
बांकानेर शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन

आज भगवान महावीर स्वामी के जन्म कल्याणक का दिन है। भगवान का आत्मा तो अनादि-अनंत है; उसका कोई नया जन्म नहीं हुआ है। भगवान महावीर का आत्मा भी भगवान होने से पूर्व अज्ञानदशा के कारण संसार में भटक रहा था; पश्चात् आत्मा का भान करके उसकी साधना करते-करते अन्तिम अवतार में पूर्ण परमात्मा हुए और निमित्तरूप से अनेक जीवों के तारनहार तीर्थंकर हुए, इसलिये उनकायह 'जन्म कल्याणक' है।

जगत में अनेक जीव जन्म धारण करते हैं किन्तु उनके जन्म को 'कल्याणक' नहीं कहा जाता। 'जन्म जयन्ती' तो लौकिक है और 'जन्म कल्याणक' अलौकिक है। भगवान के जन्म दिवस को जन्म जयन्ती नहीं किन्तु 'जन्म कल्याणक' कहा जाता है। जिस जन्म में पूर्णानन्दरूप कल्याण की साधना की, वह जन्म भी 'कल्याणक' है और निमित्तरूप से जगत के अन्य जीवों के लिये भी वह कल्याणकारी है।

पूर्वकाल में आत्मा का ज्ञान करने पर भी राग शेष रहा था, इसलिये भगवान को साधकदशा में उस राग के कारण उत्तम पुण्य का बंध हुआ... तीर्थंकरनामकर्म का बंध हुआ। वहाँ से स्वर्ग में गये... और वहाँ से अन्तिम अवतार में त्रिशला माता की कुक्षि से जन्म लिया। इसी चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान का जन्म होने पर इन्द्रों ने जन्म कल्याणक महोत्सव किया था। देह के संयोग की अपेक्षा से जन्म कहा है; किन्तु भगवान का आत्मा तो प्रतिक्षण निर्मल पर्याय की शांति में उत्पन्न हो रहा था। माता के गर्भ में थे, तब भी भगवान को आत्मा का भान था। देह का संयोग मैं नहीं हूँ; मैं तो अनादि-अनंत चैतन्यतत्त्व हूँ—ऐसे सम्यग्ज्ञान के उपरान्त अवधिज्ञान भी भगवान को था। ऐसे आत्मभान तथा तीन ज्ञान सहित भगवान ने आज जन्म लिया।—इसप्रकार भगवान की पहिचान करना चाहिये।

फिर तीस वर्ष की उम्र में, कुमारावस्था में ही बालब्रह्मचारीरूप में भगवान ने दीक्षा धारण की। 'दीक्षा धारण की' अर्थात् चैतन्य के आनन्द में लीन हुए। अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते-झूलते सर्वज्ञपद की साधना की। साडे बारह वर्ष तक चैतन्य चैतन्यानन्द में झूलते-झूलते चारित्रदशा में रहे। भगवान को मुनिदशा में दु:ख नहीं था, कष्ट नहीं था किन्तु आनन्द की धारा उल्लसित होती थी। धर्म करने से अंतर में सुख का अनुभव होता है। धर्म अर्थात् सम्यक्चारित्र में सुख होता है या दु:ख ? अज्ञानी जीव, चारित्र को कष्टरूप-दु:खरूप मानते हैं; अरे भाई ! दु:खरूप और कष्टरूप तो आस्रव है और संवर-निर्जरारूप धर्म तो आनन्दरूप है—सुखरूप है। धर्मी को आत्मज्ञान हुआ, तभी से चैतन्य के एवं राग के पृथक्-पृथक् स्वाद का स्वादन होता है। धर्मी को भी अभी राग तो होता है, किन्तु राग के स्वाद को चैतन्य के स्वाद से भिन्न जानते हैं और राग के समय भी राग से भिन्न चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद का अंशत: वेदन वर्तता है।—ऐसी दशा में आनन्द में झूलते-झूलते भगवान महावीर ने इस अन्तिम जन्म में सर्वज्ञपद की साधना पूर्ण की।

सर्वज्ञ होने के पश्चात् धर्मसभा समवशरण में भगवान की दिव्यध्वनि खिरी... उसमें भगवान ने ऐसा उपदेश दिया कि हे जीवों ! तुम्हारे चैतन्य का तथा राग का स्वाद भिन्न-भिन्न है। राग का स्वाद वास्तव में चैतन्य का स्वाद नहीं है, इसलिये उसे आत्मा से भिन्न जानो.. और उस राग से भिन्न ऐसे निज चैतन्य के स्वाद का आस्वादन करो। आत्मा के ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभवन करना, सो धर्म है। भगवान ने इस अवतार में अपने पूर्ण कल्याण की साधना की और जगत के जीवों को कल्याण का मार्ग दर्शाया, इसलिये भगवान का यह अवतार 'जन्म कल्याणक' है।

भगवान ने जो पूर्णानन्ददशा प्रगट की और उसका उपाय दर्शाया, उसे जानकर अपने में वैसा उपाय प्रगट करना, वह भगवान का जन्म कल्याणक मनाने का सच्चा हेतु है। भगवान की सच्ची पहिचान के बिना उनके जन्म कल्याण का सच्चा लाभ नहीं मिलता।

आज भगवान महावीर स्वामी का जन्म दिवस है; भगवान के जन्म को मंगल कहा जाता है, क्योंकि भगवान ने इस जन्म में आत्मा की पूर्णानन्दरूप परमात्मदशा प्रगट की। ऐसे परमात्मा को पहिचानकर, उन्हीं जैसे अपने आत्मस्वभाव को प्रतीति में लेना, सो प्रथम सम्यग्दर्शनरूप मंगल धर्म है।

आत्मा की पूर्णानन्ददशा को प्राप्त सर्वज्ञ, वे देव हैं; उस दशा के साधक संत, वे गुरु हैं और पूर्णानन्द प्रगट करने का उपाय बतलानेवाली उनकी वीतरागी वाणी, सो शास्त्र है। जिज्ञासु को

प्रथम ऐसे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान करना चाहिये। जो बाह्य साधन से या रागभाव से धर्म होना मनायें, वे सच्चे देव-गुरु या शास्त्र नहीं किन्तु विपरीत हैं।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का संयोग मिलना भी अनन्तकाल में महा दुर्लभ है; और देव-गुरु-शास्त्र का संयोग मिलने के पश्चात् भी, उन्हें पहिचानकर श्रद्धा होना अत्यन्त दुर्लभ है; और उन देव-गुरु-शास्त्र द्वारा कहे गये चिदानन्दस्वरूप आत्मा की अन्तर्मुख श्रद्धा होना तो अनंतकाल में कभी नहीं किया हुआ ऐसा अपूर्व धर्म है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा जानता है कि परमार्थ से महानदेव तो मेरा आत्मा ही है; आत्मा में से ही परमात्मदशा आयेगी; इसलिये मेरा आत्मा मेरा देव है। 'अरे आत्मा! शिवरमणी रमनार तुं, तुं ही देवनो देव'—इसप्रकार अंतर से भनक उठना चाहिये। एकबार अंतरस्वभाव की प्रतीति करे तो आत्मा में से मुक्ति की भनक आ जाये कि अब अल्प काल में ही आत्मा में से मुक्तदशा प्रगट हो जायेगी।

अन्तिम तीर्थंकर महावीर भगवान ने आज अन्तिम जन्म धारण किया; और यहाँ (वांकानेर के) जिनमन्दिर में उनकी स्थापना भी आज हुई। उन भगवान ने क्या कहा है, उसकी यह बात है। भगवान ने जिनशासन में ऐसा कहा है कि अरे जीवो! परमात्मदशा की शक्ति तुम्हारे स्वभाव में ही भरी है; उसे चूककर जो क्षणिक विकार (राग-द्वेष-अज्ञान) होता है, वह संसार है; इसके अतिरिक्त बाह्य संयोग में तुम्हारा संसार नहीं है। संयोग से गुण या अवगुण नहीं है। सधनता कोई गुण नहीं है और निर्धनता कोई अवगुण या दोष नहीं है; किन्तु संयोग में आत्मबुद्धि, वह दोष है और संयोग से पार चिदानन्दस्वभाव में दृष्टि एवं एकाग्रता करना, सो गुण है।

सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा का स्वाद। वह स्वाद कैसा है? क्या मलाई जैसा है?—नहीं; मलाई का स्वाद तो जड़ है। अंतर में राग का स्वाद आये, वह भी विकारी है; किन्तु जड़ से और राग के स्वाद से पार चैतन्य के आनन्द का अतीन्द्रिय स्वाद आये, वह सम्यग्दर्शन है और वहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना शुभराग से व्रत-तपादि साधन अनंत बार किये किन्तु चैतन्य की शांति प्राप्त नहीं हुई; इसलिये श्रीमद् राजचंद्र जी कहते हैं कि—

"वह साधन बार अनंत कियो,
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो;
अब क्यों न विचारत है मनसें,
कछु और रहा उन साधन सें।"

जिस भाव से संसार में परिभ्रमण किया, उससे भिन्न प्रकार का मोक्ष का उपाय है। जिस भाव से संसार में भटका, उसका आदर हो अर्थात् राग का आदर हो तो उस जीव को संसार की थकान नहीं लगी है; उसे चैतन्य की प्रीति नहीं है किन्तु उसके शत्रु का वह आदर करता है। जिसे राग के प्रति प्रीति है उसे चैतन्य के प्रति क्रोध है। दयादि शुभराग के एक अंश को भी यदि आत्महित का सच्चा साधन माने तो वह जीव, चैतन्य के वीतरागस्वभाव का अपमान करता है। सरल वीतरागी मोक्षमार्ग के बदले विपरीत मार्ग माने (राग को या राग से मोक्षमार्ग माने) तो वह अनंत माया है—धर्म की विपरीतता है। और जो शुभराग को हितरूप जानकर उसे रखना चाहता है, उसे अनंत लोभ है। आत्मा के चिदानंदस्वभाव का भान होने पर, राग में आत्मबुद्धि छूट जाती है; उसका आदर छूट जाता है; यानी सम्यक्भान होते ही अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ छूट जाते हैं। सम्यग्दर्शन से रहित समस्त साधन थोथे हैं। एक सेकेण्ड का सम्यग्दर्शन अनंत जन्म-मरण को छेद डालता है। उस सम्यग्दर्शन के बिना अनंत काल से अन्य साधन किये, शुभराग करके अनंत बार स्वर्ग में भी गया; किन्तु संसार परिभ्रमण से उसका छुटकारा नहीं हुआ; क्योंकि उसने धर्म की यथार्थ रीति को नहीं जाना। इसलिये प्रथम धर्म की यथार्थ रीति को समझना चाहिये। भगवान! तेरा आत्मा ही सर्वज्ञ होने योग्य है; एक बार यह बात श्रद्धा में तो ले, उसे विश्वास में तो ले। चैतन्य का विश्वास करने पर अल्पकाल में भवभ्रमण से छूटकर परमात्मपद प्रगट हो जायेगा। चैतन्य का विश्वास करके जिसने परम कल्याणरूप ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उस जीव को अपने में धर्म की उत्पत्ति हुई है और उसी ने वास्तव में भगवान का जन्मकल्याणक मनाया है; वह जिनेश्वर भगवान का लघुनंदन हुआ है।

★

ग्राहकों को सूचना

आत्मधर्म का वार्षिक चन्दा (लवाजम) चैत्र मास में पूर्ण हो गया है, इसलिये कृपया ३) मनीआर्डर से शीघ्र भेज दीजिये, जिससे वी०पी० खर्च ॥=) की आपको बचत होगी, यदि ग्राहक न होना हो तो पत्र द्वारा सूचित करें ताकि संस्था को ॥=) का नुकसान न हो। आशा है आप इसमें देरी न करेंगे।

निवेदक—

मैनेजर—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

यात्रा समाचार

मुंबई नगरी में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव अति उत्साह एवं परम प्रसन्नतापूर्वक हुए बाद माघ सुदी ८ के मंगल दिन पू० गुरुदेव ने ७०० यात्रियों सहित दक्षिण के तीर्थधामों की यात्रा निमित्त मंगल प्रस्थान किया। मुंबई के निकट मुम्रागांव में श्री बाहुबलि स्वामी की २८ फुट की प्रतिमाजी आई है, वह भक्तिपूर्वक देखकर पूना आये, वहाँ दि० जैन समाज ने स्वामीजी का स्वागत किया। पूना से दहीगांव जाने का प्रोग्राम था किन्तु फलटन दि० जैन समाज के खास अनुरोध से पू० गुरुदेव का व्याख्यान और भोजन वहीं रखा था। फलटन में छह जिनमन्दिर हैं और प्रतिमाजी बड़े मनोज्ञ दर्शनीय हैं, सिद्धान्त भवन है। धरसेनाचार्य की प्रतिमाजी और ताम्रपट ऊपर षट्खंडागम भी हैं। यात्रा संघ जब यहाँ आया, तब यहाँ पंचकल्याणक महोत्सव था। यहाँ के दर्शन करने के बाद सब दहीगांव आये। यहाँ पर श्री सीमंधरादि बीस विहरमान भगवंतों का एक साथ दर्शन का लाभ होने से बहुत आनन्द हुआ। भक्तों का हृदय बारंबार प्रसन्नता से नृत्य कर रहा था। यहाँ दर्शन-पूजन भक्ति-व्याख्यान का कार्यक्रम था। यहाँ लाभ लेने के लिये बालचंदनगर, नातेपुते, पन्ढरपुर आदि गांव के जैन भाई-बहिन बड़ी संख्या में आये थे। दहीगांव के मंदिर में एक साथ विदेह के २० तीर्थंकरों की बड़ी अवगाहनावाली जिनप्रतिमा खास दर्शनीय हैं, मंदिर भी बड़ा भारी है। यहाँ भी संघ की व्यवस्था दि० जैन समाज ने बहुत अच्छी तरह की थी। दहीगांव से लोणंद, कराड होकर हातकणंगडे स्टेशन के पास बाहुबली क्षेत्र में संघ सहित श्री गुरुदेव पहुँचे। यहाँ बड़े भारी प्रेमपूर्वक स्वागत हुआ। यहाँ छोटा किन्तु भव्य रमणीय पहाड़ है, ऊपर जिनमंदिर में चंद्रप्रभु, शांतिनाथ तथा आदिनाथ भगवंतों की सुन्दर खड़गासन प्रतिमाजी हैं, मानस्तम्भ भी है। नीचे बड़ी धर्मशाला, जिनमंदिर तथा बड़ा समवशरण है। समवशरण में दिवाल पर श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसारादि शास्त्र आरम्भ में खुदवाये हैं, (-इस क्षेत्र का बाहुबली नाम बाहुबली नाम से एक जैन मुनि ऊपर से करीब २५० साल से पड़ा है) यहाँ बाहुबली आश्रम है, यहाँ गुरुकुल पद्धति से छात्रालय और हाई स्कूल है, कार्यकर्ता वर्ग बड़े सेवा भावी और वात्सल्यवंत हैं।

बाहुबली में गुरुदेव का प्रवचन सुनने तथा दर्शन करने के लिये आसपास के गांवों में से अनेक भाई आये थे, परस्पर तत्त्वचर्चा बहुत अच्छी चलती रही थी। ब्र० माणेकचन्दजी भीसीकर

यहाँ मुख्य माननीय कार्यकर्ता हैं। आपने विदा प्रवचन देते कहा था कि—'इतने बड़े संघ के साथ यात्रा के प्रसंग में हमारे स्थान में श्री कानजी स्वामीजी का दर्शन होना, यह हमारे बड़े भाग्य की बात है। इसमें कोई शक नहीं कि—पू० कानजी स्वामी का यहाँ आना यह इस संस्था का ऐतिहासिक प्रसंग गिना जायेगा। हमारी संस्था के इतिहास में यह प्रसंग अविस्मरणीय बना रहेगा, इतना नहीं किन्तु संस्था के इतिहास में इसका बहुत उच्च स्थान रहेगा।

स्वामीजी जैन धर्म की वास्तविक और बड़ी प्रभावना कर रहे हैं। स्वामीजी का जो प्रभाव हो रहा है, इससे यह बात निश्चित समझी जायेगी कि आपके द्वारा अब इस प्रान्त में भी जैनधर्म की अच्छी प्रभावना होगी। हमारे यहाँ डेढ़ दिन कैसे बीत गये, यह भी मालूम न पड़ा.... हमारी भावना थी कि संघ यहाँ और भी एक दिन अवश्य ठहरे... हम यात्रा संघ की सफलता की कामना करते हैं।

बाहुबली क्षेत्र का डेढ़ दिन के कार्यक्रम में सभी यात्रियों को बहुत आनन्द आया।

कोल्हापुर में—

श्री गुरुदेव का अच्छा स्वागत हुआ था। व्याख्यान के बाद प्रो. ए. एन. उपाध्याय ने स्वागत प्रवचन करके स्वामीजी द्वारा जैनधर्म में खास प्रभावना हो रही है। संसार में हम मुक्ति कैसे पावें, इसकी कुंजी हमें ऐसे महान प्रभावशाली महात्माओं से ही मिल सकती है... रात्रि में सैकड़ों की संख्या में भाईयों ने लाभ लिया।

स्तवनिधि होकर बोलगांव—

बेलगांव में दि० जैन समाज ने तो अच्छी तरह स्वागत किया किन्तु श्वेताम्बर जैन समाज ने भी बहुत भारी प्रेम पूर्वक स्वागत और यात्री संघ के लिये सब व्यवस्था करके धर्म प्रेम दिखाया।

बेलगांव किले के प्राचीन जिन मंदिर में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के मंगल हस्त द्वारा प्रतिष्ठित श्री नेमिनाथ भगवान की अति उपशांत मुद्रा—भव्य जिन प्रतिमा का दर्शन करके गुरुदेव को बहुत प्रसन्नता हुई। यहाँ किले में १०५ जिन मंदिर थे, अब एक है।

हुबली—

में भी दि० जैन समाज की ओर से पू० गुरुदेव का स्वागत दो हाथी और बैंड बाजा बुलाकर अच्छी तरह हुआ, उसमें श्रीमान् एल. एम. बगी मुख्य थे।

भेदज्ञान-प्रश्नोत्तर

[समयसार कर्ताकर्म अधिकार के प्रवचनों से]

('आत्मधर्म' अंक १६४ से आगे)

(८९) प्रश्न—आत्मा में धर्म हो तो हमें उसका पता चल सकता है ?

उत्तर—हाँ, जिसे आत्मा में धर्म हुआ हो, उसे अपने स्वसंवेदन से उसकी नि:शंक प्रतीति होती है; तथा परीक्षा द्वारा दूसरों की भी पहिचान कर सकता है।

(९०) प्रश्न—मैं भव्य हूँ, ऐसा निर्णय छद्मस्थ को हो सकता है ?

उत्तर—हाँ, जब आत्मा का भान हुआ, उसी क्षण धर्मी का संदेह दूर हो जाता है और नि:शंकता हो जाती है कि मैं भव्य ही हूँ; भव्य में भी निकट भव्य हूँ; मेरा अनंत संसार कट गया है, अब अल्पकाल में ही मेरी मुक्ति होना है।

(९१) प्रश्न—सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का पता चलता है ?

उत्तर—हाँ, जहाँ रागादि से भिन्न चिदानन्दस्वभाव का भान और अनुभव हुआ, वहाँ धर्मी को उसकी नि:संदेह प्रतीति होती है कि अहो! मुझे आत्मा के अपूर्व आनन्द का वेदन हुआ; सम्यग्दर्शन हुआ; आत्मा में से मिथ्यात्व का नाश हो गया। 'मैं सम्यक्त्वी होऊँगा या मिथ्यादृष्टि ?'—ऐसा जिसे सन्देह है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है; सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को ऐसा संदेह नहीं होता। तथा धर्मी जीव परीक्षा द्वारा दूसरों को भी पहिचान लेता है।;

(९२) प्रश्न—सर्वज्ञ भगवान की क्या आज्ञा है ?

उत्तर—ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्रता करना ही सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा है; वही मोक्षमार्ग है। भगवान भी उसी उपाय द्वारा सर्वज्ञ पद को प्राप्त हुये हैं।

(९३) प्रश्न—'विज्ञान' का क्या अर्थ है ?

उत्तर—आत्मा और रागादि भिन्न हैं—ऐसा जो विशेष ज्ञान अर्थात् भेदज्ञान, सो 'विज्ञान' है। जिसे ऐसा विज्ञान नहीं है, उसके भले ही ज्ञान का अधिक विकास हो, तथापि वह 'अज्ञान' है। भले ही विज्ञान (सायंस) की बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ प्राप्त की हों, किन्तु यदि अंतर में राग से भिन्न आत्मा का भान नहीं है तो वह जीव सचमुच विज्ञानी नहीं किन्तु अज्ञानी ही है। और मेंढ़क आदि तिर्यंचों को भले ही लिखना-पढ़ना न आता हो, किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर अंतर में यदि

रागादि से भिन्न चिदानन्दस्वभाव का भान कर लिया तो वे अज्ञानी नहीं किन्तु विज्ञानी हैं, भेदज्ञानी हैं, धर्मी हैं। जगत का विज्ञान (सायंस) कहीं भव से तारने में काम नहीं आता किन्तु यह भेदज्ञानरूपी आत्म-विज्ञान ही भव से तारनेवाला है।

(९४) प्रश्न—यह बात किसे समझाते हैं ?

उत्तर—जो जीव जिज्ञासु होकर पूछता है, उसे समझाते हैं।

(९५) प्रश्न—जिज्ञासु क्या पूछता है ?

उत्तर—जिज्ञासु पूछता है कि हे प्रभो— यह कैसे जाना जा सकता है कि यह आत्मा ज्ञानी हो गया ? अर्थात् ज्ञानी का क्या लक्षण है ?

(९६) प्रश्न—शिष्य ने जो प्रश्न किया उसके उत्तर में आचार्यदेव कौनसी गाथा कहते हैं ?

उत्तर—आचार्यदेव ७५ वीं गाथा में कहते हैं कि—

कर्मणाश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम्।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥७५॥

जो आत्मा, कर्म-नोकर्म के परिणाम को वास्तव में नहीं करता, विकार में तन्मय नहीं होता, किन्तु विकार से भिन्न अपने आत्मा को जानकर ज्ञानस्वरूप होता है—वह ज्ञानी है।

(९७) प्रश्न—आत्मा का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर—आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण ज्ञान एवं आनन्द से भरा है, विकार उसका स्वभाव नहीं है। मोह से ही विकार का कर्तृत्व प्रतिभासित होता है।

(९८) प्रश्न—मोह क्या है ?

उत्तर—ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा को भूलकर—'विकार ही मैं हूँ'; ऐसी मान्यता, सो मोह है; अथवा स्वरूप में असावधानी और विकार में ही सावधानी, सो मोह है। स्वरूप का उत्साह छोड़कर परपदार्थ की ओर का उत्साह, सो मोह है।

(९९) प्रश्न—राग-द्वेष-मोह किसके परिणाम हैं ?

उत्तर—राग-द्वेष-मोह जीव की पर्याय में होते हैं, उस अपेक्षा से तो जीव के विकारी परिणाम हैं।

(१००) प्रश्न—जीव के परिणाम होने पर भी, उन्हें निश्चय से कर्म के परिणाम क्यों कहे हैं ?

उत्तर—जीव के स्वभाव में राग-द्वेष-मोह नहीं हैं; उन राग-द्वेष-मोहरूप से परिणमित होने का जीव का स्वभाव नहीं है; जीव के स्वभाव के साथ उन राग-द्वेष-मोह की एकता नहीं है, इसलिये स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से वे जीव के परिणाम नहीं हैं; इसलिये उन्हें कर्म के परिणाम कहे हैं।

(१०१) प्रश्न—इसप्रकार विकार को कर्म के परिणाम कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—उस विकार से भेदज्ञान कराके जीव के शुद्धस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है। उस शुद्धस्वभाव के अवलम्बन में विकार की उत्पत्ति नहीं होती।

(१०२) प्रश्न—जीव को और रागादि विकार को परमार्थ से कर्ता-कर्मपना है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; परमार्थ से जीव को और रागादि विकार को कर्ताकर्मपना नहीं है।

(१०३) प्रश्न—जीव को रागादि के साथ कर्ताकर्मपना क्यों नहीं है ?

उत्तर—क्योंकि जीव के स्वभाव को और रागादि को व्याप्य-व्यापकपना नहीं है; व्याप्य व्यापकपने के बिना कर्ताकर्मपना नहीं होता।

(१०४) प्रश्न—व्याप्यव्यापकभाव का दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर—जैसे कि घड़ा और मिट्टी; उनमें व्याप्य-व्यापकपना है। घड़ा व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है, इसलिये उनमें कर्ताकर्मपना है। मिट्टी कर्ता है और घड़ा उसका कर्म है; किन्तु घड़ा और मिट्टी की भाँति विकार को और आत्मस्वभाव को व्याप्य-व्यापकपना नहीं है। आत्मा व्यापक होकर विकार में व्याप्त नहीं होता—उनमें तन्मय नहीं होता; इसलिये आत्मा को सचमुच विकार के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

(१०५) प्रश्न—तो आत्मा को किसके साथ कर्ताकर्मपना है ?

उत्तर—आत्मा को अपने ज्ञानपरिणाम के साथ ही कर्ता-कर्मपना है; क्योंकि उसी के साथ उसे व्याप्यव्यापकपना है।

(१०६) प्रश्न—व्याप्य-व्यापकपना कहाँ होता है और कहाँ नहीं होता ?

उत्तर—व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं होता; अर्थात् जो जिसका स्वरूप हो, उसी में वह व्यापक होता है और जो जिसका स्वरूप नहीं होता, उसमें वह व्यापक नहीं होता। तथा जहाँ व्याप्य-व्यापकपना होता है, वहीं कर्ताकर्मपना होता है।

(१०७) प्रश्न—कुम्हार घड़े का कर्ता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; वास्तव में कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है।

(१०८) प्रश्न—कुम्हार घड़े का कर्ता क्यों नहीं है ?

उत्तर—क्योंकि कुम्हार घड़े में व्याप्त नहीं होता, इसलिये उसे घड़े के साथ व्याप्य-व्यापकपना नहीं है; इसलिये वह घड़े का कर्ता नहीं है।

(१०९) प्रश्न—तो क्या कुम्हार के बिना घड़ा बनता है ?

उत्तर—कुम्हार तो परद्रव्य है; उस परद्रव्य से निरपेक्षरूप मिट्टी स्वयं परिणमित होकर घटरूप होती है; इसलिये मिट्टी ही घड़े की कर्ता है और कुम्हार को उसमें असद्भाव है। घट-निर्माण के समय कुम्हार की उपस्थिति होने पर भी, घट तो कुम्हार के कर्तृत्व बिना ही तैयार होता है।

(११०) प्रश्न—जिस प्रकार मिट्टी घड़े की कर्ता है, उसीप्रकार आत्मा विकार का कर्ता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; क्योंकि मिट्टी और घड़े को व्याप्य-व्यापकपना है; किन्तु आत्मा को विकार के साथ व्याप्य-व्यापकपना नहीं है; इसलिये आत्मा को विकार के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है। जिसप्रकार कुम्हार को घड़े के साथ व्याप्य-व्यापकपना न होने से वह घड़े का कर्ता नहीं है, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानस्वभाव का विकार के साथ व्याप्य-व्यापकपना न होने से आत्मा को विकार के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

(१११) प्रश्न—'तत्त्वार्थ सूत्र' में तो औदयिकभाव को भी जीव का स्वतत्त्व कहा है न ?

उत्तर—वहाँ तो औदयिकभाव भी जीव की पर्याय है—ऐसा बतलाने के लिये व्यवहार से उसे जीव का स्वतत्त्व कहा है; किन्तु वह जीव का स्वभाव नहीं है; जीव का ज्ञानस्वभाव, विकार से भिन्न है;—ऐसा बतलाने के लिये यहाँ निश्चय से उन विकारी भावों को पुद्गल के परिणाम कहे हैं।

(११२) प्रश्न—विकार को आप क्षण में जीव के परिणाम कहते हैं और क्षण में पुद्गल के परिणाम कहते हैं; तो हम विकार को जीव का मानें या पुद्गल का ?

उत्तर—वह विकार जीव की ही पर्याय में होता है, उस अपेक्षा से उसे जीव का जानना; किन्तु जीव का स्वभाव, विकारमय नहीं है; जीव का स्वभाव तो विकाररहित है;—इसप्रकार स्वभावदृष्टि से विकार, वह जीव का नहीं है, किन्तु पुद्गल के ही लक्ष से होता है; इसलिये वह

पुदगल का ही है—ऐसा जानना। इसप्रकार दोनों पक्ष जानकर शुद्ध स्वभाव से ढलने पर पर्याय में से भी विकार दूर हो जाता है और जीव, विकार का साक्षात् अकर्ता होता है; इसलिये परमार्थ से जीव विकार का कर्ता नहीं है। यदि वह परमार्थ से विकार का कर्ता हो तो वह कर्तृत्व कभी छूट नहीं सकता। किंतु अंतर्स्वभावोन्मुख होने से विकार का कर्तृत्व छूट जाता है; इसलिये जीव उसका कर्ता नहीं है। जीव को स्वभाव के आश्रय से तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणाम ही होते हैं, इसलिये जीव उन्हीं का कर्ता है तथा वे ही जीव के कर्म हैं।

—ऐसा जानकर जो विकार के कर्तारूप से परिणमित नहीं होता किन्तु स्वभावोन्मुख होकर ज्ञानपरिणाम के कर्तारूप से ही परिणमित होता है, वह ज्ञानी है। इसलिये विपरीत हो वह अज्ञानी है।

तू जहाँ है वहीं तेरा सुख है

सुख, वह आत्मा का प्रयोजन है। प्रत्येक जीव सुख की इच्छा करता है... और... सुख के लिये ही उछलकूद करता है। यहाँ आचार्य भगवान समझाते हैं कि—

हे जीव— तेरे आत्मा में सुखशक्ति होने से आत्मा ही स्वयं सुखरूप होता है। आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों सुखरूप हैं; आत्मा का धर्म सुखरूप है, दुःखरूप नहीं है। हे जीव! अपनी सुखशक्ति से ही तुझे सुख प्राप्त होगा; अन्यत्र कहीं से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि—

तू जहाँ है, वहीं तेरा सुख है।

हे जीव! तेरी सुखशक्ति ऐसी है कि उसमें दुःख कभी प्रविष्ट हो ही नहीं सकता; इसलिये आत्मा में डुबकी लागकर अपनी सुखशक्ति को उछाल-उछाल! अर्थात् उसे पर्याय में परिणमित कर; उससे तुझे अपने सुख का प्रगट अनुभव होगा।

[– पाँचवीं शक्ति के प्रवचन से]

आनन्द की जन्मदायिनी

ज्ञानी की वैराग्य-भावना

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप से नित्य है, उसका जिसे भान और भावना नहीं है, तथा जो देह में ही आत्मबुद्धि करके वर्तता है—ऐसा अज्ञानी जीव बन्दूक की गोली आने पर चिल्लाता है कि 'हाय! हाय मैं मर गया!'—इसप्रकार अज्ञान के कारण भयभीत होकर महादु:खी होता है; जबकि नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना भानेवाला ज्ञानी तो निर्भय है कि बन्दूक की गोली अथवा जगत के किसी पदार्थ में मेरे ज्ञानानन्दस्वरूप को छेदने या नष्ट करने की शक्ति नहीं है।—इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप की भावनापूर्वक ज्ञानी को समाधान वर्तता है। कदाचित् भय के कारण रागद्वेष हो आये, किन्तु ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना से च्युत होकर रागद्वेष होते ही नहीं; इसलिये उनके रागद्वेष की मात्रा अत्यन्त अल्प होती है। और अज्ञानी कदाचित् राष्ट्र आदि के अभिमान के कारण साहसपूर्वक बन्दूक की गोली छाती पर झेलता हो, तथापि नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप की भावना का अभाव और देहादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि का प्रभाव होने से उसके अभिप्राय में रागद्वेष की मात्रा अत्यन्त तीव्र (अनंतानुबंधी) है। भावना किस ओर ढलती है, उसी पर आधार है। ज्ञानी की भावना आत्मस्वभाव की ओर ढलती है, वह भावना आनन्द की जननी और भव का नाश करनेवाली है। अनित्य, अशरण आदि बारह प्रकार की भावनाओं का झुकाव तो नित्य-शरणभूत चिदानन्दस्वभाव की ओर ही होता है। देहादि संयोगों को अनित्य जानकर, उनसे विरक्त होकर, नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर ढलना—उन्मुख होना ही सच्चा अनित्य भावना का तात्पर्य है। इसप्रकार स्वभाव की ओर उन्मुखतापूर्वक वैराग्य भावनाओं के चिन्तन से धर्मात्माओं का आनन्द बढ़ता जाता है; इसलिये बारह वैराग्य भावनाएँ आनन्द की जननी है। आनन्दाभिलाषी जीवों को वस्तुस्वरूप के लक्षपूर्वक इन भावनाओं को भाना चाहिये। [- द्वादशानुप्रेक्षा के प्रवचन से]

धर्मात्मा श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए 'सागार धर्मामृत' में कहते हैं कि—अर्द्धरात्रि के समय अचानक निद्रा भंग हो जाये तो श्रावक को क्या करना चाहिये?—सम्यक् प्रकार से वैराग्य-भावनाओं का चिंतन करना चाहिये।

सच्चे सुख के लिये सीधा मार्ग (यथार्थ उपाय)

प्रकाशनेवाले

तत्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१- सम्यग्दर्शन-(दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है, इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैनधर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई हैं। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६ मूल्य १.६३।

२- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाइड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३- श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह-

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्राय: सब तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत आवश्यक जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना इत्यादि वर्णन होने से अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

४- जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३

जिसमें सर्वोत्तम शैली से शास्त्राधार सहित तत्त्वार्थों के विषय में ऐसा समाधान दिया है कि शास्त्रों का अर्थ नहीं समझनेवालों का भी सच्चा नि:शंक समाधान हो सकता है और सभी को

उपयोग में आने योग्य है। पृ० सं० तीनों भाग की ४००, मूल्य प्रत्येक का ०.५६।

५- ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव-

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तु स्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त।

३- अनेकान्त, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४ - द्रव्य-पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ।

६. वस्तुविज्ञान अंक जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो—इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर खास प्रवचनों का सार—जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है। बढ़िया जिल्द सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे।५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० मूल्य लागत मात्र, ५) पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

छप रहा है!! शीघ्र ही छप रहा है!! छप गया!!!

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत
जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।
मूल्य ४॥)

पता— (१) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
(२) श्री महेन्द्रकुमार सेठी
ठि० ६२ धनजी स्ट्रीट, मुंबई नं० ३

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	छप रहा है।	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५ ॥=)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्म पाठ संग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८	
तृतीय भाग	॥-)	-१०-११-१२-१३	३ ।।।)
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।